

चूहेदानी

दूधनाथ सिंह

गाड़ी चल पड़ी तो उसका मन हुआ प्लेटफ़ार्म पर रूमाल हिलाते बसन्त को बुला ले। उसके अगल-बगल मुसाफ़िरोँ और विदा देने वालों का झुण्ड निकलता जा रहा था और वह भीड़ से बचता हुआ लगातार अपना रूमाल हिलाता जा रहा था। यहाँ तक तो उसकी ज़िद चल गई थी लेकिन इसके बाद सुमिता ने कहा था कि वह उसे साथ नहीं ले जा सकेगी। स्वर में कुछ ऐसा खिंचाव था कि बसन्त अपना सामान 'क्लोक रूम' में ही छोड़ आया था। फिर गाड़ी जब तक नहीं चली, वह खिड़की के सीखचों से सिर टिकाये चुपचाप खड़ा रहा। सुमिता कभी उसकी ओर देख लेती, फिर मुँह फेर कर दूसरी ओर बाहर देखने लगती। बसन्त की नाक, उसके होंठ और चिबुक खिड़की से भीतर हो आये थे। खिड़की पर इस तरह खड़े होने की उसकी पुरानी आदत थी। उससे पता नहीं कैसा-कैसा होने लगता था सुमिता के मन में। वह कहता, 'मिस शर्मा!'

'आ जाइए अन्दर।'

'नहीं, मैं जल्दी में हूँ। बस यूँही चला आया था।'

और वह तेज़ कदमों से चला जाता।

अब वह कहाँ होगा। शायद सामान उठाकर किसी होटल में चला गया होगा। लौटने के लिए तो उसे कल सुबह एक दूसरी गाड़ी का इन्तजार करना होगा। कल सुबह तक वह कहाँ होगी? मेरठ। फिर?... उसने चाहा कि नींद आ जाये

और सुबह उठने पर सोम उसे स्टेशन पर खड़े मिल जायें। कैसे वे मिलेंगे? क्या उन्हें कोई खबर है? और खबर होती भी तो भी क्या वे स्टेशन आते? तब वह क्यों जा रही हैं?.....

वह खिड़की से बाहर देखने लगी। खिड़की से बाहर अधर में सिर झुकाये बसन्त जैसे कहीं चला जा रहा हो.....। भागती हुई रेल से बाहर दिखने वाले तार क्षितिज पर खिंची हुई पतली सफ़ेद लकीरोँ की तरह लगते थे। हल्के नीले रंग वाला आकाश, पेड़, मैदान, पगडंडियाँ, बगीचे, गांव, अंधेरे में टिम-टिमाती रोशनियाँ- सब पनियाले कोहरे में डूबे हुए-से। भागती हुई ट्रेन के साथ कोहरे की पट्टी भी जैसे दौड़ रही थी। कोहरे के बीच से कहीं पेड़ों की फुनगियाँ तो दिख जाती लेकिन बीच का भाग घनी पट्टी के बीच ढका रहता। जैसे पेड़ का ऊपरी हिस्सा हवा में निराधार टँगा हो। यही दृश्य लगातार चलता जाता...। फिर रात का सन्नाटा, छूटते हुए स्टेशन, कुलियों और मुसाफ़िरोँ का शोर, और फिर कोहरे में डूबा इंजन का सोला-सा खाँसता-सा स्वर...।

उसने खिड़की से सिर टिकाकर आँखें मूँद लीं। भीतर कहीं एक आकृति उभरी। लगता बसन्त है। उसके होंठ सीखचों के भीतर बिलकुल उसके गालों से सटे हैं। ठण्ड के कारण उसकी गर्म साँसों की भाप रह-रह कर उसके चेहरे पर फैल रही है। उसकी बरुनियाँ गालों को सहला रही हैं और वह दोनों बाँहों से खिड़की के सीखचों के साथ ही उसे जकड़े हुए टँगा हुआ चला आ रहा है। बाँहों की जकड़ ढीली हुई नहीं कि वह चलती हुई रेल से नीचे....।

सोम की बाँहें भी तो इसी तरह उठती थीं। बिस्तर पर लेटे-लेटे वे दोनों बाँहें उठा देते। वह लजाती-लजाती उनमें ढल जाती। कई बार वह भागने को हुई तो उसने पाया कि वे बाँहें उसे घेरे हुए हैं। लेकिन बसन्त? उसकी बाँहें? उसने उस आवाहन का प्रत्युत्तर कभी नहीं दिया। बसन्त की बाँहें उठतीं और फिर नीचे गिर जातीं। शर्म से वह इधर-उधर देखने लगता और हाथ पीछे बाँधे जैसे वह अपनी उँगलियों की जकड़ छिपा लेना चाहता हो।....उसकी अन्तरंग

आँखों के सामने एक धुँधली-सी तस्वीर थी। वहाँ सोम का चेहरा था - वही एकदम मासूम, अनुभवहीन और शान्त सा। साथ ही लम्बी बाँहों के घेरे, कुछ मोटे होंठ और छोटी-सी चिबुक जो सारे चेहरे को अतिरिक्त कोमलता से भर देती थी। माँ ने पहली बार देखकर कहा था, 'यह तो कोई नार्सिसस लगता है।' पहली बार वे देखने आये थे और खुद आँखें झुकाये बैठे रहे... कितनी सच निकली यह अनुभूति कि यह व्यक्ति जिस किसी को भी एक बार अपनी बाँहों में समेटे लेगा, उसे कितना गहरा सुख....नहीं दुख, यातना, अभाव की परिक्रमा, व्यर्थ में धरती की परिक्रमा। क्या कहे वह? कुछ नहीं कह सकती। समय जैसे सारे निर्णयों को डुबो ले गया है।

शादी के दूसरे दिन सुबह उसने चन्द्रा से खूब घुलकर बतायी थी बातें। एक-एक घड़ी का विवरण उसने दिया था। एक-एक पल का। आँखों की एक-एक झपक का। उसने कहा था, 'सिर्फ पागल हो जाना शेष है। मुझे लगता है मैं हो जाऊँगी। इतना सब कैसे सँभलेगा! तुम्हीं बताओ चन्द्रा। तुम जो पहली बुझाती थीं, वह मैं समझ गयी हूँ 'दोनों सहेलियाँ एक दूसरे को जकड़े लेटी रहीं। थोड़ी देर बाद चन्द्रा ने कहा था, 'ऐसे भाग सबके नहीं होते....। रानी तुम खुशानसीब हो....लेकिन हमें भूल न जइयो।'...'ज़रूर भूल जाऊँगी...मैं दुनिया-जहान भूल जाऊँगी'... वे दोनों खिलखिलाकर हँसी तो माँ आ गयी थी।रात भर में वह सिरस के फूल की तरह हल्की हो गयी थी। एक अनुभव गृहिणी की भाँति दिन भर वह माँ-भाभियों के बीच डोलती हुई बात-बात में दखल देती रहीं।

'एक ही रात का यह असर! रानी जी, अब अरविन्द की 'डिवाइन लाइफ' नहीं रटोगी?' बड़ी भाभी ने कहा था।

'तुम हटो भाभी! मैं खुद ही 'डिवाइन लाइफ' हो गयी हूँ।

तब तक उसने माँ को देखा। उसकी भेद-भरी मुस्कान लक्ष्य कर उसने रुठने का अभिनय किया तो सभी ठहाके लगाकर हँस पड़े थे। वह भाग कर अपने कमरे में चली गयी थी।

ससुराल में फूलों की सेज। तह-पर-तह सारे तन-मन में खुशबू...जैसे सारी ज़िन्दगी में सुहागरातों। उसने खिड़की के बाहर झाँककर देखा था। इलाहाबाद की तुलना में मेरठ उसे एक मामूली-सा कस्बा लगा था। स्टेशन में माधवनगर तक आते हुए सड़कों के तंग और सँकरे घुमाव, दुकानों पर जलती हुई तेल की ढिबरियाँ या गैसबत्तियाँ, रास्ते में कहीं बिजली और कहीं तेल के पुराने लैम्पपोस्टों के बीच अँधेरे-उजाले के कई-कई रंग। उसे सभी कुछ बड़ा प्यारा, शान्त निरीह-सा लगा था। रात हुई तो चुपके से वह एक बार छत पर गयी। छत से दूर-दूर तक घने, सान्द्र पपीतों के बाग़ और उनके बीच से गुज़रती हुई काली, अँधेरी सड़क। पश्चिम की ओर चुंगी-फाटक के पास ही एक बड़ा-सा ईंटों का दरवाज़ा और उसी से लगा हुआ, टुटी-फूटी, पुरानी-नयी कब्रों से इंच-इंच भरा कब्रगाह...वह चुपचाप नीचे उतर आयी। खिड़की से टिककर बाहर देखने लगी। कब्रगाह पर धीरे-धीरे चाँदनी फैलती और बादलों के पर्दे में गुम हो जाती.....

और इसी तरह तीन दिन और तीन रातें। बसन्त पहले बहुत पूछता था, 'इतने कम समय में ऐसा क्या मिल गया जो...।' अब नहीं पूछता...ऊपर से नीचे तक सुख-भार से लदी, बेहोश वह कमी अपने बाहर ताकती, कमी आपने भीतर। सारी दुनिया का अस्तित्व जैसे समाप्त हो गया था। चारों ओर खाली सन्नाटा और एकान्त। और उस एकान्त में केवल दो प्राणी। कोई रहस्यमय, अर्थों से परे गीत का आलाप गुनगुनाते हुए। अब तो उसकी अनाम छाया भर है। वही उसे रोकती है। कातर या सबल बनाती है। अब वह स्वयं नहीं जान पाती। चन्द्रा से कही गयी वह बात कितनी सच निकली... 'अब केवल पागल भर होना शेष बच रहा है।' लेकिन क्या सच में उन्हीं अर्थों में? ... कुल तीन दिन ही तो बीते थे। वही दिन, जिनमें उसे लगा था कि वह कई कल्पों से इसी तरह सुख में बेहोश, अजर-अमर जीती चली आयी है। वे ही तीन दिन, जिन्होंने उसे यह यंत्रणा भोगने के लिए सचमुच अमर कर दिया।

...खिड़की से लगी, बाहर की ओर ताकती वह दरवाज़े से आते हुए सोम की आहट ले रही थी। बाहर कब्रगाह पर नीम की पत्तियाँ झर रही थीं और बीच-बीच के पक्षियों का झुण्ड चहचहा कर चुप हो जाता। जैसे घोंसले में जगह की कमी है। सभी को नींद आ रही है, कोई किसी को टेलटूल देता है तो नींद टूटने के कारण वह झल्लाकर कुछ कहता है। फिर तू-तू, मैं-मैं होती है और फिर सब शान्त। बचपन में वे सब भाई-बहन इसी तरह करते थे... तब माँ आ जाती थीं...उसे याद आया।...तभी उसे आहट से जाना कि सोम आकर उसके पीछे पलंग पर बैठ गये हैं अब वे अपनी बाँहें फैलायेंगे। अब! अब...। उसने इन्तज़ार नहीं हो सका। वह पीठ के बल ही उनकी गोदी में लुढ़क गयी। आँखें मूँद लीं और इन्तज़ार करने लगी।

‘मुझे ठण्ड लग रही है,’ उसने कहा।

एक पल बाद, कोई जवाब न पाकर, उसने आँखें उठाकर देखा। एकदम चौंक कर उठ बैठी; सोम का चेहरा तमतमाया हुआ था। आँखें सुलग रही थीं। नथुने फड़क रहे थे और होंठों के कोनों में हल्की-सी झाग निकल आयी थी। वे इस तरह बाहर की ओर देख रहे थे जैसे कुछ सुना ही न हो।

‘क्या हुआ, किसी से लड़कर आये हो क्या?’ उसने उसका चेहरा पकड़ कर घुमा दिया।

उन्होंने एक बार घूर कर देखा और एक धक्के से उठाकर अलग कर दिया। धक्का इतने जोर से दिया गया था कि वह बिस्तर पर लुढ़क-सी गयी। फिर भी वह कुछ नहीं बोली, उठकर बैठ गयी। फिर उसने लिहाफ़ खींचकर अपने पैरों पर डाल लिया। फिर एकाएक उससे रहा नहीं गया। बाँहों में चेहरा ढककर व फफक पड़ी।

‘क्यों, क्यों, क्यों? आखिर क्यों?’ उन्होंने उसकी बाँह जोर से पकड़ ली।

वह चुप उन्हें देखती रही।

‘तुम औरत हो न?’

‘.....’

‘यह सब कहाँ से आता है? तुम जानती हो? नहीं जानती?’

‘.....’

‘क्या हो रहा है? यह सब नहीं चलेगा, समझी! ओफ़ोफ़ा!’ उन्होंने एक धड़ाके के साथ खिड़की बन्द कर दी। फिर न जाने क्या समझ कर खोल दी। फिर सारी खिड़कियाँ खोल दीं। दरवाज़े खोल दिये। कुछेक पल खिड़की की छड़ पकड़े बाहर कब्रगाह की ओर ताकते रहे। फिर पास आकर बोले, ‘जानती हो, मतलब? बोलो? ज़रूर जानती हो। क्यों नहीं जानती? क्यों, क्यों, क्यों?’ उन्होंने उसकी बाँह पकड़कर उठाना चाहा। फिर भी उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या बोले।

‘मैं जानता हूँ, मैं’, उन्होंने अपनी छाती ठोकते हुए कहा, ‘दुनिया की जितनी बदचलन औरतें हैं, वे अपने पतियों को उतना ही ज्यादा प्यार करती हैं। जिसकी यारी जितनी गहरी होगी, पति के लिए उसके प्यार का नाटक उतना ही गहरा और सफल होगा। मैं सच नहीं बोल रहा हूँ? मैं सब जानता हूँ। पता नहीं चलता, इतना फ़रेब इतना नाटक, इतना पाप इस नन्हे-से जिस्म में कहाँ समाता है...। बोलो? मैं समझता हूँ।’

बाँहें छोड़कर वे धम्म से पलंग पर बैठ गये।

उसने सोचा, अब वे शान्त हो गये। समझ में तो कुछ भी नहीं आ रहा था। ‘मैं देखूँगा।’ वे सहसा तन कर खड़े हो गये। ‘कहाँ जच्च करती हो तुम लोग?’ उन्होंने उसे पकड़ कर पहले उठाया और फिर पलंग पर पटक दिया। वह टुकुर-टुकुर उनका मुँह देखती रही। साड़ी उन्होंने खींचकर अलग कर दी। ब्लाउज़ के बटन एक झटाके से चटचटा कर खुल गये।

‘यहाँ?’....उसने कुछ नहीं कहा। उसके पेट और वक्षस्थल पर खरोंचों से

खून छलछला आया। 'हटाओ हाथ। ...यहाँ...यहाँ?' उन्होंने जगह-जगह बकोटना शुरू किया।.....'यहाँ'....तड़ाक-तड़ाक उसके दोनों गालों पर तीन-चार तमाचे जड़ दिये। 'बोलो? नहीं बोलोगी?' उसने तकिये में अपना मुँह गड़ा लिया। 'नहीं बोलोगी? देने आई बिल शो यू...लेट मी हैव माइ पिस्टल।' उन्होंने आल्मारी की ओर देखा, 'नो, इट्स नाट हीयर'...वे कमरे से बाहर निकल गये।

'आई ऐम जस्ट रिटर्निंग माई लिटिल डार्लिंग। हैव पेशेन्स। डोण्ट लूज़ योर करेजा।'

वह चुपचाप उठकर दूसरे दरवाजे से नीचे आयी और सास को जगा दिया। दौड़-धूप शुरू हुई। दो आदमियों ने पकड़ कर उन्हें जबरदस्ती लिटाया। डाक्टर आया। फिर थोड़ी ही देर बाद सोम के चेहरे पर वही शान्त निरीह भाव लौट आया। जैसे वे बहुत थक गये हों और सोना चाहते हों। सब लोग डाक्टर के साथ बाहर जाने लगे तो सास ने उसे भी चलने के लिए इशारा किया। उसने कह दिया कि वह थोड़ी देर में आयेगी। फिर वह सोम के सिरहाने आकर चुपचाप बैठ गई और उनके बालों में उँगलियाँ फेरने लगी। फिर जैसे एक कोहरा-सा छँटने लगा और आँखों से मौन आँसू की लड़ियाँ बँध गयीं। अब क्या होगा? क्या होगा अब? तभी उसने सुना-डाक्टर बरामदे में कह रहा था, 'मिस्टर गौड़! दि एक्सपेरीमेण्ट हैज़ बीन टोटली अनसक्सेफुल।' उस एक क्षण में ही वह जड़ हो गयी। उसके हाथ जहाँ के तहाँ रूक गये। 'एक्सपेरीमेण्ट!' लगा कि वह चीख पड़ेगी। 'एक्सपेरीमेण्ट'।...सोम के माथे को हल्का-सा झटका देकर वह उठ आयी। उसका मन हुआ कि सोम का पिस्तौल उठाकर वह बाहर खड़े सभी लोगों को एक-एक करके गोली मार दे। उसने सोचा कि बस, इसी क्षण, अभी वह चल देगी। चाहे रात उसे किसी होटल में बितानी पड़े या कहीं और। उसने घूमकर देखा-सोम की दोनों बाँहें उसकी ओर उठी हुई थीं। आँखों से दो बूँद दोनों तरफ गालों पर बह आयी थीं और वे एक असहाय बच्चे की तरह उसकी ओर देख रहे थे। उसके भीतर से उमड़-उमड़ कर कुछ अटकने सा लगा। उसकी

इच्छा हुई कि धरती फट जाय और वह सभा जाये। भूचाल आये, या कुछ भी हो सोम उसे गोली ही मार दें। वह चुपचाप दाँतों से होठों को दबाये कमरे से बाहर निकल आयी।

सीढियाँ उतरते हुए उसने एक बार पीछे घूमकर देखा था। वह सोच नहीं सकती थी कि सोम अगर दरवाज़ा पकड़े, खड़े-खड़े उसकी ओर देख रहे होंगे तो वह क्या करेगी।....लेकिन वहाँ कोई नहीं था.....। अन्दर शायद फिर उन्हें दौरा आ गया था। कुछ लोग उन्हें पकड़े हुए थे। उनकी चीख सारे बँगले में गूँज रही थी- 'साली, कुतिया....कमीनी....थू:।'

खिड़की से टिके-टिके, जाने कब उसे नींद आ गयी थी। हड़बडाकर जब वह उठी तो पाया कि सुबह हो गयी है और गाड़ी मेरठ पहुँचने वाली है।... स्टेशन पर उतरते ही वह सिहर गयी। वही छोटा-सा स्टेशन था। बिलकुल वैसा ही। कहीं कोई परिवर्तन नहीं। 'यही शहर है जहाँ वह अपने को दफन कर गयी थी।' उसने सोचा और कुली से सामान उठवाकर स्टेशन के बाहर आ गयी। यहीं उस बार उसकी सास खड़ी थीं। और साथ ही कितने अजनबी लोग, जो उसे देखने और स्वागत के लिए उपस्थित थे। दूकानें वैसी ही थीं।...तो क्या यह सीधे माधवनगर चली चले? इसी पसोपेश में वह रिक्शे पर बैठ गयी। 'किसी होटल में चलेंगे, समझे।' कहकर वह चुप हो गयी।

....दोपहर बीत गयी थी। होटल की छत पर धूप में एक दरी बिछाकर वह लेटी हुई थी। धूप माथे पर कुछ तीखी लगने लगी तो उसने नौकर से कहकर एक खाट खड़ी कर ली। ऊपर आसमान में काफ़ी ऊँचाई पर चीलों के गिरोह भाँवरे ले रहे थे। गहरे नीले आकाश में सफ़ेद बादलों के चकत्ते पैबन्द की तरह कहीं-कहीं उभरते और फिर गुम हो जाते। फिर सहसा आकाश की अथाह गहराई में से कहीं एक सफ़ेद टुकड़ा प्रकट हो जाता और हवा के इशारे पर झलमलाता हुआ सरकने लगता.....

‘बेकार है तेरा यहाँ आना। तेरे मन में तो कुछ भी नहीं है सुमित!’ वह बार-बार अपने से कहती। और फिर वह कैसे मिलेगी? क्या कहेगी कि वह क्यों आई है क्या वह संयत रह सकेगी? जो भी हो, वह पूछेगी, ... सोम की छाती पर मुक्के मार-मार कर पूछेगी, ‘तुमने ऐसा क्यों किया? तुमने मुझे ऐसा क्यों बना दिया? तुम मुझे क्यों नहीं छोड़ते?’ और सोम? उसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे।

लेकिन जो भी हो, वह मिलेगी जरूर। फिर? फिर क्या? अब और क्या शेष रह गया था। इन सात वर्षों में चुप-चुप तलाक भी हो गया था। उस वक्त सोम पागलखाने में थे। हस्ताक्षर करते वक्त वह वहीं फूट पड़ी थी। नहीं, वह यह बिल्कुल नहीं चाहती...। उसका मन होता कि वह सोम को पागलखाने जाकर देख आये। फिर उसने रिसर्च पूरी की। पापा ने कहा कि ‘कुछ कर ले’ तो उन्हीं की सिफारिश पर उसने प्राध्यापिका का पद भी स्वीकार कर लिया। उसके दूसरे दिन उसने पापा को चिट्ठी लिखी थी, ‘पापा, मुझे अब और कुछ करने के लिए मत कहना। मैं ठीक हूँ।’ वहीं रहते हुए उसे चन्द्रा से खबर मिली कि सोम अच्छे हो गये हैं और उन्हें नौकरी पर फिर से बहाल कर लिया गया है। उसे संतोष हुआ था और उसने सोचा था कि एक बार बिना किसी को बताये वह मेरठ चली जाये और उन्हें देख आये। लेकिन उनके ज़रा-सा भी ‘डिस्टर्ब’ होने की कल्पना से ही वह काँप उठती और उसका जाना रह जाता....

इसी पसोपेश में एक दिन चन्द्रा की चिट्ठी आयी। लिखा था, ‘सोम ने फिर से शादी कर ली है।’ वह सन्न रह गयी। सहसा उसे विश्वास नहीं हुआ। उसे चन्द्रा को तार दिया कि यह खबर कहाँ तक सच है। जवाब में चन्द्रा ने लिखा कि ‘यहाँ सभी को पता है। साथ ही एक साप्ताहिक में उसने सोम और उस लड़की की तस्वीर छपी हुई देखी है। तस्वीर की कटिंग वह भेज रही है।’ तस्वीर देखकर भी उसे विश्वास नहीं हो रहा था। कई बार स्टूल पर कोने में रखी सोम की तस्वीर से वह मिलान करती और देखती रह जाती। उसकी समझ में नहीं

आ रहा था कि वह क्या सोचे? अपने साथ कैसा व्यवहार करे। चुपचाप वह बाहर निकल आयी। कुछ लड़कियाँ उसके साथ रोज़ ‘न्यू-साइट’ तक घूमने जाया करती थीं। उसने सभी को मना कर दिया दुनियाँ की किसी भी घटना या अघटना पर उसे विश्वास नहीं हो रहा था कुछ भी सम्भव है यहाँ और कुछ भी असम्भव है। विशेषकर जिसे अनहोना समझा जाता है वह तो घटित होकर ही रहता है। उसे लगा कि किसी ने तुम्बी लगा कर उसका रक्त चूस लिया है और एक कठपुतली की तरह निर्जीव, अनुभूतिहीन, वह चुपचाप चली जा रही है।

होस्टल में वह काफी देर से लौटी थी। कई लड़कियाँ दरवाजे पर बैठी फुसफुसा रही थीं। और दिन होता तो वह डाँट देती, लेकिन आज कुछ नहीं बोली। उसे लग रहा था कि वह इन सबसे गयी-गुजरी है। उसकी कोई अहमियत नहीं है। अन्दर आकर वह लेट रही। खिड़की के बाहर अँधेरे में देखते हुए उसके भीतर एक मरोड़-सी उठने लगी। जैसे सींखचों के बाहर की हर चीज़ परायी हो गयी हो। उसकी इच्छा हुई कि हाथ बढ़ाकर, बाहर अँधेरे में डूबी हुई सारी हरियाली और झरझराती हवा को अपने अन्दर खींच ले। फिर उस रात... बेदम-सी करवटें बदलती हुई न जाने किसी अनदेखे को सुनाकर वह कराहती-छटपटाती रही....

सुबह उठी तो लगा जैसे किसी पराये देश में जागी है। रात भर में ही जैसे सारा जीवन खिड़कियों को राह सरक कर गुम हो गया था। जैसे अन्दर का सब कुछ निचुड़ कर बह गया था और उसका सूखा हुआ कंकाल एक मूर्ति की तरह खिड़की पर बैठा दिया गया था। हाथ-मुँह धोते वक्त वह न जाने किसी दूसरी अनहोनी का इन्तज़ार करती रही। घंटों बाथरूम के फ़र्श पर बैठी ठिठुरती रही। -‘डायनिंग हाल’ में गयी तो उससे कुछ भी खाया नहीं गया। कौर मुँह में डालते ही उल्टी-सी आने लगती। छोड़कर वह उठ आयी। फिर उसे महसूस हुआ कि इस कमरे में वह एक क्षण को भी नहीं रह सकती। जल्दी-जल्दी कपड़े बदल कर वह यूनिवर्सिटी चली गयी। क्लास में जाते वक्त उसे लगा जैसे सभी उसी

को देख रहे हैं। उसकी पीठ पर बाँहों पर, आँखों में, भँवों में सब कुछ लिखकर टाँक दिया गया है।.....

क्लास खत्म होने पर उससे वहाँ नहीं रहा गया। 'स्टाफरूम' की ओर जाने के बजाय वह पैदल ही होस्टल चल पड़ी। कमरे का ध्यान आया तो उसने सोचा अब कहाँ जाया। फिर वह अपने आप 'न्यूसाइट' की ओर मुड़ गयी। धीरे-धीरे दिन डूब गया। हल्की-सी ठण्ड गहरा गयी। अँधेरा उठने लगा। उस अँधेरे में क्षितिज की रेखाएँ तोड़ते हुए निःशब्द पक्षी थे। बादलों के नन्हें-नन्हें छल्लों में लाल मछलियाँ थीं। कहाँ दूर ट्रेन की लयात्मक टूटती हुई आवाज़ थी। सब कुछ कितनी तेज़ी से टूट रहा था। हवा रूकती हुई-सी लग रही थी। उसके फेफड़े बेदम हो रहे थे। पूरब की ओर झील में लाल कमल मुँद रहे थे और दूर-दूर तक ऊँचे-ऊँचे टीलों, घाटियों और खेतों के बीच-कँकरीले रास्तों, पगडंडियों और खाइयों में अन्धकार भरता जा रहा था। वह घास में मुँह के बल लेट गयी और फफक-फफक कर रोने लगी। सन्नाटे में उसका सिसकना साफ़-साफ़ सुनायी दे रहा था, जैसे बच्चा आधी रात को माँ को बिछौने पर न पाकर डरता हुआ धीरे-धीरे सिसकने लगता है। उसकी मुठ्ठियों में नुची हुई घास भर गयी थी और उसी तरह मुँह के बल पड़ी हुई वह न जाने कब सो गयी थी....

छत पर की धूप न जाने कब की सरक गयी थी। साँझ हो गयी थी। 'चीला' हवायें बदन चीरती हुई सरसराने लगी थीं। ठण्ड के कारण आसमान अजीब ढंग से सिकुड़ा हुआ लगता था। चारों ओर घरों और बाजों पर झुर्रियाँ-सी उतर रही थीं वह उठ खड़ी हुई और होटल के लड़के से रिक्शा बुलाने को कहकर, कमरे में चली गयी। उसे कपड़ों का ख्याल आया। क्या पहनकर वह जाये! इतने भयावह दुख में भी वह अनुभूति उसे सुख से आर्द्र कर गयी। जैसे सोम कहीं इन्तज़ार कर रहे हों। अभी भरे-भरे मन से जाकर उनसे लिपट जाना हो... रिक्शे पर चलते हुए उन सभी जगहों की धुँधली-सी तस्वीर साफ़ हो गयी। लेकिन परिचय का वह स्तर बदल गया था। अभिभूत होकर डूब जाने के वे

विस्मय भरे एकान्त अब कहाँ थे।...सँकरी गलियों में हाथकघर्षे घर्-घर् करते हुए चल रहे थे। जहाँ-तहाँ डिबरियों की रोशनी या बिजली की हँसी ओढ़े शाम झिलमिला रही थी।...सड़क पर ही वह रिक्शे से उतर गयी। सामने वही हापुड़-नौचन्दी की चुंगी, उस ओर वही बड़ा सा फाटक और फिर हापुड़ की ओर जाती हुई अँधेरी सड़क।...उस खिड़की से यह सब दिखता था। अचानक वह सिहर गयी और उसने शाल खींच कर बाँहों को ठीक से ढक लिया।...सड़क छोड़कर वह गली में आ गयी।

मकान के चबूतरे पर चढ़ते ही उसकी धड़कने बढ़ गयीं। भीतर रोशनी झलक रही थी। सामने-वाली खिड़की खुली थी। दरवाज़े पर लगी सफ़ेद 'काल-बेल' चमक रही थी। उसके हाथ 'काल-बेल' दबाने ही जा रहे थे कि अन्दर से सोम के ठहाके की आवाज़ सुन पड़ी। वह सहम कर काँप गयी। क्या एक बार की गहरी पहचान इन्सान को कभी नहीं भूलती?...खिड़की की राह उसने देखा-सोम एक नन्हें-सी बच्ची को उछाल रहे हैं। बच्ची रोती जा रही है और मान नहीं रही है। पत्नी फ़र्श पर बैठी हुई एक दूसरे बच्चे को कुछ खिला रही है। उसकी पीठ खिड़की की ओर थी। क्षण भर को सोम की बात भूलकर पत्नी की पीठ वह एकटक देखती रही। उसने चाहा कि एक बार उस स्त्री का मुँह देख ले। सोम का चेहरा भी दूसरी ओर था और उनके कन्धे पर चीखती हुई बच्ची का आँसुओं से तर गोल-मटोल मुखड़ा भर दिख रहा था।

अचानक उसे यह सब कुछ बड़ा अटपटा-सा लगा। उसने घूम कर पीछे गली में देखा। आते-जाते लोग उसे इस तरह खिड़की से झाँकती देखकर क्या सोचेंगे! वे दुबले नहीं दिख रहे थे। कन्धे और भी पुष्ट और चौड़े हो गये थे। कमर मोटी लग रही थी।

...यही देह कभी कितनी अपनी थी, जिसने उसे इस तरह पागल बना दिया था, उसने सोचा और एक क्षण को फिर उसने देखना चाहा कि...। बच्ची खिलखिला रही थी और वे झुककर लगातार पत्नी के गालों को चूम रहे थे।

... वह जल्दी से नीचे उतर आयी और गली में यों चलने लगी जैसे यहीं कहीं रहती हो। सड़क पर आकर उसने इधर-उधर ताका। कोई रिक्शा आस-पास दिखायी नहीं पड़ा। चुंगी-फाटक पार करके वह आगे बढ़ गयी। कुछ दूर अँधेरी सड़क पर चलने के बाद वह नौचन्दी के बड़े वाले मैदान की ओर मुड़ गयी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि कहाँ जा रही है। उसे स्वयं अपने चलने की यादगार भी भूल गयी थी। अचानक उसने अपने को कब्रगाहों के बीच में पाया। पलाश और झाऊ के झारखण्डों के बीच पुरानी हुई कब्रें उसके पाँवों के नीचे थीं।... पहली बार यहीं पर उसे शक हुआ था। 'सूरज कुण्ड' की ओर से घूमते हुए सोम और वह ठण्डी रात में यहाँ आये थे। तब उसे कितना डर लगा था। और अब? 'क्या तुम्हें डर लगता है?' उसने खुद से पूछा।

इससे ज्यादा डर तो उसे सोम की खिड़की पर खड़े-खड़े लगा था। कैसा डर...? चलते-चलते कभी वह एक धँसी हुई कब्र में हो जाती, फिर किसी दूसरी कब्र पर चढ़कर उसे पार करना होता। यह खड़ी हो गयी और पगडण्डी का अन्दाज़ लगाने लगी। कुछ दूर पर एक छोटी-सी मस्जिद देखी। भीतर कोई नन्हा सा दीपक बाल गया था। हवा की सिहरन से सूखे पत्ते खड़खड़ा कर उड़ते और फिर सब शान्त। पलाश और झाऊ के झारखण्डों के बीच से अजीब-अजीब कलूटी, आदिम, अनदेखी आकृतियाँ उभरने लगीं।

क्या वह ज़िन्दा है, दफ़न नहीं हो गयी है? क्या उसका जिस्म उसकी कब्रगाह नहीं? कब्रगाह जिसे वह सौंपना चाहती है। चाहती है कि कोई उस पर फूल चढ़ाये...फिर भी वह नहीं सौंप पाती।...एक नयी बनी हुई कब्र पर बैठ गयी। इच्छा हुई यहीं लेट जाये और कोई ऊपर से मिट्टी डाल दे। मन वितृष्णा से भर आया।...कोई किसी का दुख नहीं समझ सकता। वह किसी को भी दोष नहीं देती। पापा को भी नहीं। क्या किसी के भी वश में है कि वह दूसरे को सुखी रख सके। ऐसा चाहा जा सकता है, लेकिन चाहने से ही तो सभी कुछ नहीं हो जाता।.....

पिछले सात वर्षों से वही कमरा.....और वही रातें। जिनमें एक पल को भी

वह जगी रहना नहीं चाहती। लेकिन नींद?..... आँख झपकते ही वह चिहुँक कर उठ बैठती। जैसे कोई साँस चुरा ले भागने की फ़िक्र में दरवाजे पर घात लगाये हो। झट वह बत्ती जला देती। कहीं कुछ भी नहीं। भीतर इतनी थकान और इतना दबाव.....हाथ-पैरों के जोड़ों पर त्वचा के नीचे नसों का धड़कना साफ़-साफ़ दिख पड़ता। तकिये पर कानों की राह धुकधुकी सुनते-सुनते वह ऊब जाती। करवटें बदलती....फिर बदलती....फिर....फिर। फिर नींद में सपनों के अम्बार हर करवट पर किसी विराट सपने के भयावह खण्ड टूट-टूट कर जुड़ते जाते।सुबह उठने पर वह शाम से भी ज्यादा थकी होती। सारे बदन में केवल नसों का धड़कता जाल महसूस होता ।

बीच-बीच में कभी-कभी माँ आकर एकाध हफ्ते के लिए रह जातीं। पिछली दफ़ा उन्हें पता चल गया था। जब भी सुबह वह 'इनो' का गिलास माँगती, वे समझ जातीं। माँ केवल चुपचाप देखतीं और होंठ दाँतों तले दबाये चुपचाप चली जातीं। वह मनाती, 'कुछ नहीं माँ, वो नींद नहीं - आती न, इसलिए वह लिपट जाती।

'तो तू नींद की गोलियाँ क्यों नहीं रखती?'

'और किसी दिन एक साथ कई गोलियाँ खा लूँ....तो माँ?'

माँ आँसू पोंछती हुई चौके में चली जातीं। 'तू बस नौकरी छोड़ और चल.....' वह कहतीं। उसका मन होता, पूछे, 'कहाँ माँ?' लेकिन वह चुप रह जाती। युनिवर्सिटी जाने लगती तो माँ कहती,'देखो बेटा। देर न करना।' वे हमेशा भरभरायी हुई लगतीं।

धर्मशाले के पीछे एक छोटी-सी जगह थी। बुढ़िया को वह भाभी कहती। बर्फ़ में रखी हुई 'बियर' की बोतल निकालकर वह खुद ही रख लेती। भाभी पकौड़े और पापड़ भून लाती। तब तक वह 'काकटेल' बनाती। फिर थोड़ी देर बाद आवाजें दूर-दूर लगने लगती। सारा माहौल, लोग, भीड़, सवारियाँ सब काफ़ी दूर दूर लगते। अपनी आवाज़ भी जैसे काफ़ी दूर से बोली गयी लगती। जल्दी लौट आने पर भी माँ समझ जातीं।

‘माँ, पापा से मत कहना, मैं इतनी गिर गयी हूँ।’ फिर माँ-बेटी दोनों फूट पड़तीं।

‘तू किताबें क्यों नहीं पढ़ती?’ माँ कहतीं

‘सारी किताबें मुझे चिढ़ाती हैं माँ। सब जगह मेरी ही बात लिखी है।’ वह खिलखिला पड़ती।

माँ चौंक कर उसे देखती रह जातीं।

फिर माँ के चले जाने के बाद वह उसी तरह असहाय हो जाती; घंटों बिस्तर पर, फर्श पर या दरवाज़े की संधि पर उकड़ूँ बैठी रहती। सूने दिन या रात के एकांत में उसे लगता कोई आवाज़ दे रहा है-‘सुमित!’ वह चौंक कर चारों ओर देखती रह जाती। नहीं, यह भ्रम है। ऐसी बातों पर उसे कतई विश्वास नहीं होता।....बारिश का होना, पहाड़ियों और खेतों में संध्या के आलोक का बुझना, रातों का ढलना या दिन की तीखी धूम के पंजे फैलाना।सब में उसे एक भयावह छाया-सी नज़र आती। उसे फिर वही आवाज़ सुन पड़ती.....‘सुमित!’ वह धूमकर चारों ओर ताकती और एक अजब-से सुख-भाव से बोल पड़ती.‘हूँ,बोलो?’

फिर वह सन्नाटे की उसी आवाज़ का इन्तज़ार करती।

ऐसे ही क्षणों में पैण्ट की जेबों में हाथ ठूँसे बसन्त कभी-कभी दिख जाता। बहुधा क्लास से लौटते वक्त वह स्टाफ रूम की खिड़की पर आकर खड़ा हो जाता.....‘मिस शर्मा’। जैसे नींद-सी टूटती। वह कुर्सी घुमाकर उसे देखती रह जाती, ‘आ जाइए न अन्दर।’

‘क्लास है।’ वह खिड़की के छड़ पकड़े मुस्करा पड़ता। उसकी नाक, होंठ और चिबुक खिड़की के भीतर आ जाते। वह थोड़ी देर तक खड़ा रहता, फिर चला जाता।

उस दिन सारी रात उसने निश्चय किया था। डर लगा रहता था कि कहीं

नशे में तो वह ऐसा नहीं सोच रही है। सुबह मीटिंग थी। मीटिंग खत्म होने के बाद उसने बसन्त को आवाज़ दी। पहले उसके हाथ उठे, फिर वह पीछे हाथ बाँधे आकर मुस्कुराता हुआ खड़ा हो गया। फिर बोला, ‘आज आप खुश दिख रही हैं।’

‘चलिये, थोड़ा घूम आयें।’ उसने बात को बदलते हुए कहा।

सड़क छोड़कर वे ऊँचे-नीचे रास्ते पर हो लिये। टीले पर चढ़ते वक्त एकाध जगह बसन्त ने हाथ बढ़ाना चाहा तो उसने ऐसे जताया जैसे देख नहीं रही हो। एक जगह कुछ चौड़ी सी खाई थी बसन्त फिर अपना हाथ बढ़ाकर खड़ा हो गया। एक पल के बाद उसने हाथ पकड़ लिया और खाई पार कर गयी। एक ऊँचे टीले पर चढ़कर वे बैठ गये। सूर्य डूब रहा था। बसन्त का चेहरा सूर्य के लालिम रंग में भीजकर एकदम सुर्ख हो रहा था।.....एकाएक फिर न जाने कैसे उसे सोम का चेहरा याद आया।क्यों ऐसा है? क्यों? किसी भी एकान्त में सोम की मुद्राएँ घिर आती हैं? उसने सिर झटक लिया.....सुमित प्लीज़!’ उसने मन-ही-मन कहा, ‘ठीक है.....बाद में जो भी कह लेना।’.....उसकी आँखों में आँसू आ गये। बसन्त से छिपाने के लिए मुँह दूसरी ओर फेर लिया। उसकी इच्छा हुई कि उठ चलने को कहे। सब बेकार है।

‘ठण्ड काफी है।’ बसन्त ने तभी कहा। उसकी दोनों बाँहें ऊपर आसमान की ओर उठी हुई थीं।

‘आपने पुलोवर नहीं पहना।’ उसने कहा।

‘मैं अपने लिए नहीं कह रहा।’ बसन्त ने कहा।

फिर दोनों चुप हो गये। बसन्त रह-रह के कोई पत्थर उठाता और नीचे खाई की ओर लुढ़का देता। कभी लड़-खड़ाते हुए पत्थर की आवाज़ सुनाई पड़ती, कभी नहीं।

एकाएक उसने करवट घूम कर अपनी एक बाँह बढ़ाकर सम्पूर्ण रूप से उसे खींच लिया। वह शायद उठकर चलना चाह रही थी। उस अप्रत्याशित से कुछ

भी समझ नहीं पायी। बसन्त ने और भी ज़ोर से चिपटाते हुए कहा, 'आप उन्हें बहुत चाहती हैं न?'

कुछ जवाब देते नहीं बना उससे। सोम! एक अकेला व्यक्ति.....उसकी सारी प्रकृति, सम्पूर्ण मन, देह और आत्मा में बिछा हुआ। क्या अधिकार है? किसी को भी क्या अधिकार है कि वह अपनी आत्मा को इतना निरीह बना दे? वह कहना चाहती थी, ना, मैं उस शख्स से बेहद नफरत करती हूँ। ना, मैं स्वतंत्र हूँ। मैं बिल्कुल अकेली हूँ.....अकेली बन के दिखा सकती हूँ।मुझे तुम कहीं भी ले चलो.....मैं,' लेकिन उसके मुँह से कुछ भी नहीं निकला।

'कितनी बड़ी बात है यह।' बसन्त ने कहा।

'कितनी बड़ी बात है! ना बसन्त', उसने कहना चाहा, 'यह एक भयानक मौत है जिसे तिल-तिल महसूस करना होता है। कोई मुझसे पूछे कि 'तुम्हारी उम्र ज्योतिष के अनुसार कितने वर्ष है?' तो मैं उससे पूछने को कहूँगी 'तुम्हारी मौत ज्योतिष के अनुसार अभी कितने वर्षों तक चलेगी।' बसन्त, मैं कुछ नहीं चाहती। नहीं चाहती यह पतिव्रत्य और प्रेम का बड़प्पन। मैं पाप करना चाहती हूँ। मैं गिरना चाहती हूँ। मैं सीता, सावित्री, दमयन्ती, राधा...कुछ नहीं बनना चाहती। ..मैं जानती हूँ कि मैं पुण्यात्मा नहीं हूँ। दुख पाना कोई पुण्य-कर्म नहीं है।' लेकिन, वह एकदम चुप थी।

'कितना अजीब है यह संसार!' बसन्त ने उसी तरह कहा, 'जो एक बार सुख से सजा देता है वह अपना दिया वापस नहीं ले जाता। यों कहें कि नहीं ले जा पाता। उसे लौटाने का अधिकार दाता को नहीं रह जाता। और फिर उस सुख की बाढ़ में हम आजीवन ऊभ-चूभ होते रहते हैं। फिर क्या होता है? फिर शायद कुछ नहीं हो पाता। कुछ सुख होते ही ऐसे हैं जो हमें सदा के लिए पागल कर देते हैं...' आगे वह खो-सा गया।

एकाएक उसके भीतर कोई चीज़ लड़खड़ाने लगी। उसने एक झटके से अपने को अलग कर लिया और खड़ी हो गई। यह हो क्या गया? यह उसने

क्या कर दिया? उसकी इच्छा हुई कि खूब ज़ोर से चीखे- 'नहीं, सोम.....नहीं।' भरभरा कर आँसू निकल आये। बसन्त भी उठकर खड़ा हो गया। धीरे-से उसने उसकी बाँह छुई - 'क्या हुआ मिस'....'आप यहाँ से जाइए। मुझे छोड़ दीजिए। ...जाइए।' उसने बाँह झटक दी जैसे वहाँ बिच्छू ने डंक मार दिया हो।

बसन्त ने एक बार कहना चाहा। तभी उसने आँखें उठायीं। फिर वह कुछ नहीं बोला। उसके हाथ वैसे ही पीछे बँधे हुए थे जैसे अपनी अँगुलियों की जकड़ छिपा लेना चाहता हों

बगल की झाड़ी में हल्की-सी खड़खड़ाहट हुई। वह चौंक गई। हवा के झोंके में पत्तियाँ ज़मीन पर घिसट रही थीं। वह उठ खड़ी हुई। झाड़ियों के बीच से रास्ता बनाती हुई वह नौचन्दी के बड़े वाले मैदान में निकल आयी। बड़े-बड़े टिन के 'शेड्स' में अँधेरा और भी घना हो रहा था।...चलती हुई, बड़े फाटक से निकल कर वह फिर सड़क पर आ गयी। सोम का मकान वहाँ से दिख रहा था। पीछे वाली खिड़की खुली थी और रोशनी के दायरे में कोई नारी-मूर्ति बालों में कंधी कर रही।....फिर खिड़की बन्द हो गयी। रिक्शों को ताकती वह आगे बढ़ रही थी अभी उसने देखा-दरवाज़ा खुल गया है और वही नारी-मूर्ति एक बच्चे को उँगली पकड़ाये सड़क की ओर चली आ रही है। वह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रह गयी। स्त्री ने सड़क पर आकर एक बार पीछे की ओर देखा, फिर बच्चे को उठा लिया। सारे साज-सिंगार के बावजूद वह विशेष सुन्दर नहीं लग रही थी। फिर भी देह भरी-पूरी थी और चेहरा भावहीन था। तुलना में उसने अपने को एक बार परखने की कोशिश की तो लगा कि उसका चेहरा झँवरा गया है, आँखें धँस गयी हैं। सारी देह का रक्त-माँस सूख गया है और कपड़ों के भीतर वह किसी तरह अपने कंकाल को छिपाये, लड़खड़ाती हुई चल रही है।

तभी दरवाज़े के बाहर सोम का लम्बा-तगड़ा शरीर प्रकट हुआ। एक ओर हटकर वह चुपचाप उन्हें सड़क की ओर आते देखती रही। दो-चार कदम चलकर वे खड़े हो गये और सिंगार सुलगाने लगे। कश खींचते ही सिंगार को आँच में उनका चेहरा दमक कर फिर अँधरे में ओझल हो गया।

होटल लौटकर वह बिना खाये-पिये बिस्तर पर पड़ गयी थी।

गहरी नींद में उसे लगा, कोई उसके हाथ की उँगलियाँ जीभ से चाट रहा है। उसकी एक बाँह लिहाफ़ के बाहर पड़ी-पड़ी एकदम सर्द हो गयी थी। सिहर कर वह जग गयी।... अँधेरे में कहीं कोई आहट नहीं लगी। उसने बेड़-स्विच जला दिया। कमरा ठण्ड से सिकुड़ कर जैसे और भी छोटा लग रहा था।.... एक कोने में गर्द से भरी एक चूहेदानी रखी हुई थी। लगता था महीनों पहले किसी मुसाफिर की शिकायत पर होटल-मैनेजर ने चूहेदानी रखवायी होगी। होटल की खस्ता हालत और जिन्दगी से यह ज़ाहिर था कि किसी ने चूहेदानी को फिर से हटाने का कष्ट नहीं उठाया था।...उसने देखा-एक चूहिया महीनों पहले, शायद चूहेदानी में फँस गयी थी। उसक शरीर एकदम सूखकर काँटा हो गया था। चूहेदानी की सींखचों पर अपने अगले दो पैरों को रखकर थूथने को बाहर निकालते हुये उसने निकलने की बहुत कोशिश की होगी, लेकिन उसी मुद्रा में लड़ते-लड़ते वह सूख गयी।...चूहेदानी के बाहर एक बड़ा-सा चूहा सशंक नेत्रों से कभी उसकी ओर देखता और कभी अपने दोनों अगले पाँव ऊपर उठाकर अपने थूथन से चुहिया का थूथन हिलाता.....

उसने मुँह फेर लिया और बत्ती बुझा दी। करवट बदलते वक्त तख्त पर, बावजूद बिस्तर के, कूल्हे की हड्डियाँ गड़ रही थीं।

* ————— *

दूधनाथ सिंह

8 जुलाई 1937। मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)। हिन्दी के जाने-माने कहानीकार - अनेक भाषाओं में अनूदित-अनेक सम्मान और पुरस्कार प्राप्त।

मकान

कामतानाथ

चाभी ताले में फंसा कर उसने उसे घुमाया तो उसने घूमने से कतई इनकार कर दिया। उसने दुबारा जोर लगाया परंतु कोई परिणाम नहीं निकला। अपनी जेबें टटोलना शुरू कर दीं। ऊपर वाली जेब में उसे स्टील का बाल प्वाइंट पेन मिल गया। उसने उसे जेब से निकाल कर चाभी के माथे में बने सूराख में डाल कर, मुट्ठी की मजबूत पकड़ में लेकर पेंचकस की तरह जोर से घुमाया। खटाक की एक आवाज के साथ ताला खुल गया। कुंडी खोलने में भी उसे काफी परेशानी हुई। जिन दिनों वह यहां रहता था शायद ही कभी यह कुंडी बंद हुई हो। इसीलिए उसे हमेशा ही बंद करने और खोलने, दोनों में ही, परेशानी होती थी। कुंडी खोल कर उसने दरवाजे में जोर का धक्का दिया। दरवाजे के पल्ले काफी मोटे और भारी थे। उनमें पीतल के छोटे-छोटे फूल जड़े थे, जिनमें छोटे-छोटे कड़े लगे थे, जो दरवाजा खुलने बंद होने में एक अजीब जलतरंगनुमा आवाज करते थे। दरवाजा खोल कर वह दहलीज में आ गया। घुसते ही उसने देखा, फर्श पर कुछ कागज आदि पड़े थे। उसने झुक कर उन्हें उठा लिया। दो लिफाफे, एक पोस्ट कार्ड और एक तह किया हुआ कागज था। शायद पोस्टमैन डाल गया हो, उसने सोचा, उसने उनके भेजने वालों के नाम पढ़ने चाहे परन्तु वहां प्रकाश बिल्कुल नहीं था और कुछ भी पढ़ सकना असंभव था।

उसने आगे बढ़ कर जीने के पास का स्विच टटोला। अंधेरे में स्विच दूँढने में उसे कुछ कठिनाई हुई। वैसे जब वह यहां रहता था तब कितना ही अंधेरा क्यों न हो कभी ऐसा नहीं हुआ कि पहली बार में ही उंगली अपने आप स्विच